॥ दंसण मूलो धम्मो॥

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — आश्विन
अंक छठवाँ — २४७५

सग्दर्शनरूपी पवित्रभूमि

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षिप्तौ कदाचन क्षिप्रपि प्ररोहति।
सदाप्युनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते।।

सम्यग्दर्शनरूपी भूमि में कदाचित् दुःख के बीज पड़ जायें, तथापि सम्यग्दर्शनरूपी पवित्रभूमि में वह बीज कदापि अंकुरित नहीं होते, उनके अंकुर फूटने के पूर्व ही उस पवित्रभूमि का ताप उन्हें भस्म कर देता है, और उस पावनभूमि में सुख के बीज तो बिना बोये ही सदैव उगते रहते हैं। परन्तु मिथ्यादर्शनरूपी भूमि में कदाचित् सुख के बीज बोये जायें तो भी वे अंकुरित नहीं होते किन्तु जल जाते हैं, और दुःख के बीज तो बिना बोये ही उगते रहते हैं।

(सागार धर्मामृत पृ. २५)

एक अंक
चार आना

५४

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अनुक्रमणिका

१- प्रत्येक समय का स्वतन्त्र उपादान
२- सत्शास्त्रों का स्वरूप
३- ज्ञान और ज्ञेय का स्वतन्त्र परिणमन
४- शुद्ध ज्ञानस्वरूप के अनुभव का उपदेश
५- धर्मी और अधर्मी का अन्तर कैसे जाना जाता है?
६- समयसार जयवन्त है।
७- जहाँ रुचि वहाँ निःशंकता

सम्यग्दृष्टि की संसारमुक्ति

अज्ञानी जीव पैसा खर्च करने से पुण्य और धर्म मनाते हैं, और उसके फल में स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होगी– ऐसा कहते हैं; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि पैसा खर्च करने से तो पुण्य-पाप अथवा धर्म कुछ नहीं होता, क्योंकि वह तो जड़ है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। यदि पैसे के ममत्वभाव को दूर करे तो मन्दकषाय से पुण्य होता है। परन्तु मैं पर का कर्ता हूँ और मैंने पैसा खर्च किया है – ऐसा मानकर, एवं पुण्य से धर्म मानकर मिथ्यात्व की पुष्टि करे, वह महापापी जीव निगोद में जाएगा। देखो! अज्ञानी पैसा खर्च करने से मोक्ष मना रहे हैं। ज्ञानी कहते हैं कि – मैं पैसे की क्रिया का कर्ता हूँ – ऐसा माननेवाला जीव, निगोद में जायेगा। ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता में ऐसा विरोध है। इस मान्यता के साथ धर्म-अधर्म का सम्बन्ध है।

पुण्य से या जड़ की क्रिया से जो आत्मा का धर्म मानेगा, वह जीव मिथ्यात्व के कारण निगोद में जायेगा – ऐसा कहा है, वह बात डराने के लिए नहीं की है परन्तु मिथ्यात्व का स्वरूप समझाया है। जिसने आत्मा के ज्ञान को स्वभाव के छुड़ाकर संयोगों के साथ जोड़ा है, उसके ज्ञान का परिणमन अत्यन्त हीन हो जायेगा, उसी का नाम निगोददशा है; उसकी ज्ञानशक्ति अत्यन्त हीन हो गई होने से बाह्य निमित्तरूप भी मात्र एक स्पर्शनइन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

''मैं ज्ञाता साक्षीस्वरूप नहीं हूँ, परन्तु पर का और विकार का कर्ता हूँ''– इस प्रकार जिसने पर का कर्तृत्व माना और ज्ञातास्वभाव को न माना, उस जीव की मिथ्यामान्यता में ऐसा आ जाता है कि मेरा ज्ञातास्वभाव ढँक जाओ और मुझमें विकार का तथा पर के कर्तृत्व का भाव विकसित होओ। इस मिथ्यामान्यता के कारण उस जीव का ज्ञान अन्तिम सीमा तक ढँक जायेगा और वह एकेन्द्रिय होगा; अपने ज्ञानस्वभाव की विराधना का यही फल है। और जिसने अपने ज्ञाता साक्षीस्वरूप को स्वीकार करके, विकार की और पर के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि को उड़ा दिया है, वह जीव प्रतिसमय अपने ज्ञातृत्वभाव में वृद्धि करता हुआ और रागादि भावों को दूर करता हुआ अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करता है और साक्षात्रूप से सम्पूर्ण ज्ञाता हो जाता है– यह अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना का फल है।

[भेदविज्ञानसार]

आश्विन
२४७५

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक- ६

प्रत्येक समय का स्वतन्त्र उपादान

वस्तु का स्वभाव उत्पाद-व्ययरूप होने से उसमें प्रतिसमय नवीन-नवीन कार्य होते ही रहते हैं। पहले समय की पर्याय में न हो –ऐसा कार्य दूसरे समय की पर्याय में प्रगट होता है। किसी के पहले समय मिथ्यात्वदशा हो और दूसरे समय सम्यक्त्वदशा प्रगट होती है। वहाँ जिसकी दृष्टि वस्तुस्वभाव पर नहीं है किन्तु संयोग पर है – ऐसा अज्ञानी जीव यह मानता है कि – **''अमुक निमित्त आया, इसलिए यह कार्य हुआ। सद्गुरु आदि निमित्त मिले, इसलिए सम्यक्त्व हुआ; यदि अपने आप ही कार्य होता तो पहले क्यों न हुआ?'' यह अज्ञानियों का महान् भ्रम है। और यह भ्रम ही उपादान-निमित्त सम्बन्धी भूल का मूल कारण है।** इसी भ्रम के कारण ही (अर्थात् स्वभावदृष्टि से च्युत होकर संयोगदृष्टि के ही कारण) जीव अनादिकाल से संसार-समुद्र में गोते खा रहा है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप, उसकी प्रत्येक-प्रत्येक पर्याय की सम्पूर्ण स्वाधीनता और पर-पदार्थों से बिल्कुल उदासीनता बतलाकर यह ''मूल में भूल'' ग्रन्थ अज्ञानियों के उस महान भ्रम का खण्डन करता है।

चेतन या जड़ समस्त वस्तुएँ प्रत्येक समय अपने परिणमन स्वभाव से ही नवीन–नवीन परिणामरूप उत्पन्न होती हैं। पूर्व समय में अमुक दशा नहीं होती और पश्चात् होती है, वहाँ उस समय की पर्याय की वैसी ही योग्यता होने से होती है। दो जीवों में से एक को सम्यक्त्व है और दूसरे के मिथ्यात्वदशा है, उसका क्या कारण है? दोनों जीवों के द्रव्य और गुण तो समान हैं, दोनों के पूर्व पर्याय का तो वर्तमान में अभाव है और अनादि से परिणमन करते-करते दोनों वर्तमानकाल तक आये हैं; तथापि एक के सम्यकत्वरूप परिणमन और दूसरे के मिथ्यात्वरूप परिणमन – उसका क्या कारण है? कारण यही कि दोनों द्रव्यों के परिणमन की उस समय की योग्यता ही वैसी है। इस बात पर मुख्य ध्यान रखना कि '' **कार्य होने की योग्यता त्रिकालरूप नहीं किन्तु वर्तमानरूप है। इसलिए द्रव्य की जिस समय जिस कार्यरूप परिणमित होने की योग्यता**

हो, उसीसमय वह द्रव्य उस कार्यरूप परिणमित होता है, किन्तु उससे आगे या पीछे वह कार्य नहीं होता।'' एक जीव के पहले मिथ्यात्वदशा थी, उस समय उसकी वैसे ही परिणमन की योग्यता थी, उसी से वह मिथ्यात्वदशा थी – न कि कुदेवादि के कारण से। और पश्चात् उस जीव की सम्यक्त्वदशा हुई, उस समय वह जीव अपने उस-समय के परिणमन की योग्यता से ही उसरूप परिणमित हुआ है – न कि सद्गुरु इत्यादि के कारण से।

इसी प्रकार प्रत्येक परमाणु भी अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही परिणमित हो रहा है। एक समय दो परमाणु लाल रंगरूप परिणमित हों और दूसरे समय उसमें से एक परमाणु काले रंगरूप तथा दूसरा सफेद रंगरूप परिणमित होता है। दोनों के द्रव्य-गुण तो समान हैं, पूर्वपर्याय भी दोनों की समान थी और अनादि से परिणमित होते-होते दोनों वर्तमानकाल तक आये हैं, तथापि परिणाम में अन्तर पड़ता है; क्योंकि उन-उन परमाणुओं के परिणमन की उस समय की योग्यता स्वतन्त्र है।

ऐसी ही वस्तु की स्वाधीनता है, और ऐसे ज्ञान में ही स्वभाव का पुरुषार्थ है। जैसे त्रिकाली द्रव्य सत् है, उसका कोई कर्ता नहीं है और न उसे किसी की अपेक्षा है, वैसे ही उसके अनादि-अनन्त समय में प्रत्येक समय की पर्याय अपनी स्वतन्त्र योग्यता रखती है,–इसी का नाम उपादान है। द्रव्य-गुण की स्थिति सदा एकसमान होती है परन्तु पर्यायें सदा एकसमान नहीं होतीं।

त्रैकालिक द्रव्य को और उसकी पर्याय के प्रत्येक समय के स्वतन्त्र कार्य को जानना, वह उपादान का ज्ञान है और उस समय संयोगरूप अन्य द्रव्यों का ज्ञान करना, सो निमित्त का ज्ञान है। इन दोनों की स्वतन्त्र जाने, तभी दो पदार्थों मे एकत्वबुद्धि दूर होकर सम्यग्ज्ञान होता है। परन्तु 'इस निमित्त–पदार्थ के कारण उपादान का कार्य हुआ अथवा निमित्त आया, इसलिए कार्य हुआ, निमित्त ने कुछ प्रभाव डाला, सहायता की, प्रेरणा दी'– इस प्रकार का कोई भी सम्बन्ध मानना, वह उपादान-निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान है। जो जीव सूक्ष्मतत्त्वदृष्टि के अभाव के कारण स्वभाव से प्रत्येक पदार्थ की स्वाधीनता और एक के पश्चात् एक दशारूप होने की उसकी स्वतन्त्र योग्यता को नहीं जानते – वे एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने की, अर्थात् वस्तु की पराधीनता की मिथ्याकल्पना किये बिना नहीं रह सकते। और ऐसी जो वस्तुस्वरूप से विपरीत कल्पना है, वही महान अधर्म है। 'मूल में भूल' नामक पुस्तक यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलकार भव्य-जीवों को उस अधर्म से छुड़ाती है।

सत्शास्त्रों का स्वरूप

''जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश करे, वही आगम पढ़ने-सुनने योग्य है, कारण कि संसार में जीव अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक के द्वारा वे मोक्षमार्ग को प्राप्त करलें तो उसमें गमन करके इन दुःखों से मुक्त हो जायें। अब, मोक्ष-मार्ग तो एक वीतरागभाव है, इसलिए जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष-मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वही शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य हैं।'' (मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय -१)

सत्शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागभाव की पुष्टि करना ही है।

सत्शास्त्रों में चाहे जो बात की हो, परन्तु उसमें राग-द्वेष-मोह को नष्ट करने का और वीतरागभाव की पुष्टि का ही प्रयोजन है। भक्ति, शास्त्रश्रवण, दनादि करने की बात की हो, वहाँ भी उसमें जो राग है, उसका तो निषेध ही किया है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, इत्यादि में शुभराग होता है, परन्तु उसमें कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र के प्रति राग का सर्वप्रथम निषेध आता है, इससे वहाँ भी राग को दूर करने का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा इत्यादि का कथन हो, वहाँ वीतरागी स्वरूप की दृष्टिपूर्वक जो अशुभराग नष्ट हुआ,वह प्रयोजन है, किन्तु जो शुभराग शेष रहा है, उसका प्रयोजन नहीं है, उसका तो निषेध है।

सत्शास्त्र पढ़ते समय शुभराग होता है, किन्तु शास्त्रों का प्रयोजन तो यह बतलाने का है कि यह शुभराग भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, इससे वह भी रखने योग्य नहीं है। स्वरूप की दृष्टिसहित शुभभाव हो, वह अशुभभाव से बचाता है, इससे उसके द्वारा वीतरागभावरूप प्रयोजन अंशतः सिद्ध होता है। किसी भी प्रकार का राग रखना शास्त्र नहीं बतलाते हैं, किन्तु किसी न किसी प्रकार से राग को दूर करना ही शास्त्रों का आशय है। शास्त्र आत्मा की स्वतन्त्रता बताते हैं कि तू स्वतन्त्र है, अपने से ही परिपूर्ण है, हमारा अवलम्बन भी तुझे नहीं है। इस प्रकार शास्त्र आत्मा की स्वतन्त्रता बतलाकर मोह तथा राग-द्वेष को छुड़ाते हैं। जितना राग दूर होकर वीतरागभाव हुआ, उतना ही प्रयोजन सिद्ध हुआ है और जो राग रहा है, वह रखने योग्य नहीं है।

जिनमें किसी भी प्रकार से राग करने का प्रयोजन बतलाया हो, वे सत्शास्त्र नहीं हैं। सत्शास्त्र किसी भी प्रकार से राग करने को कहते ही नहीं।

भक्ति इत्यादि शुभराग का उपदेश हो, वहाँ भी वीतरागता का ही प्रयोजन है

प्रश्न :– भगवान की भक्ति तो शुभराग है, तथापि सत्शास्त्रों में तो वह करने का उपदेश है?

उत्तर :– सत्शास्त्र में भगवान की भक्ति करने को कहा हो, वहाँ अशुभराग को दूर करने का प्रयोजन है, और जो शुभराग रह जाता है, उसे भी रखने का उपदेश नहीं है। सत्शास्त्रों का पूर्ण प्रयोजन तो अशुभ और शुभ-दोनों प्रकार का राग छुड़ाकर सम्पूर्ण वीतरागता कराना ही है, परन्तु जहाँ वह प्रयोजन पूर्णरूप से सिद्ध न होता हो, वहाँ एकदेश प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अशुभ से छुड़ाने को शुभ का उपदेश दिया जाता है।

सत्शास्त्र, राग से और कुमार्ग से छुड़ाते हैं

सत्शास्त्र में कभी तो ऐसा भी कथन होता है कि तू जिनेन्द्र भगवान को मान तो मेरा बाँझपन दूर हो जायेगा – तुझे पुत्र की प्राप्ति होगी। इसमें भी किसी अंश में राग को कम करने का ही प्रयोजन है। यद्यपि पुत्रप्राप्ति की इच्छा से वीतरागदेव का माने, वहाँ तो मिथ्यात्व ही है, तथापि लौकिक हनुमान, शिकोतेर, पीर इत्यादि कुदेवों के मानने से जीव को अति तीव्र राग है, उससे छुड़ाने का प्रयोजन विचारकर सच्चेदेव को मानना कहा है। पुत्रप्राप्ति की इच्छा से भी कुदेवादि को छोड़कर सच्चे देव को मानने से राग कुछ मन्द होता है। तथा कुदेवादि के निकट तो उसे सत् समझने का अवकाश ही नहीं था, अब सुदेवादि को मानने से किसी भी समय उसे सत् समझने का अवकाश है। इस प्रकार, जो राग मन्द पड़ता है, उतना ही शास्त्रों का प्रयोजन है; और जो राग शेष रहा, वह तो छोड़नेयोग्य ही है।

सत्शास्त्र प्रथम तो पूर्णता का ही उपदेश देते हैं कि – तेरा स्वभाव सर्वप्रकार से पूर्ण है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करके इसीक्षण पूर्ण परमात्मा हो जा। मिथ्यात्व और रागमात्र को दूर करके चिदानन्द वीतराग हो जा। यदि सम्पूर्ण वीतरागता न हो सके तो सम्पूर्ण वीतरागस्वभाव की श्रद्धा कर, ज्ञान कर, और यदि तत्काल श्रद्धा-ज्ञान भी न हो सके तो उसकी जिज्ञासा रखकर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन द्वारा कुदेवादि के प्रति जो राग है, उसे छोड!

इसमें जो शुभराग होता है, वह राग कराने का शास्त्र का प्रयोजन नहीं है, परन्तु जितने अंश में राग दूर हुआ, उतना ही प्रयोजन है। शास्त्र का मूल प्रयोजन तो जीव को मोक्षमार्ग में लगाने का है। सच्चे शास्त्र किसी भी प्रकार जीव को राग से और कुमार्ग से छुड़ाते हैं। राग की अथवा कुदेवादि की पुष्टि करानेवाला कथन किसी भी वीतरागी शास्त्र में नहीं होता। 'तुझसे शुभराग न हो तो तू पाप करना अथवा कुदेवादि को मानना – ऐसा वचन किसी भी सत्शास्त्र में होता ही नहीं।'

अन्य शास्त्र सत्शास्त्र क्यों नहीं हैं?

प्रश्न :– सत्शास्त्रों में राग घटाने का प्रयोजन है – ऐसा कहा है, परन्तु अन्य शास्त्रों में

भी राग कम करने को तो कहा है, इससे उन्हें भी सत्शास्त्र कहना पड़ेगा?

उत्तर :– सत्शास्त्रों का कोई भी कथन राग की पुष्टि करानेवाला होता ही नहीं। अन्य शास्त्रों में अनेक बार तो राग को कम करने के लिए कहते हैं और कभी राग करने को भी कहते हैं; अर्थात् एक-प्रकार का राग कम करने के लिए कहकर दूसरे प्रकार के राग की पुष्टि कराते हैं। भगवान की भक्ति में जो शुभराग है, वह राग करने को अन्य शास्त्र पुष्टि कराते हैं, इससे उन शास्त्रों में राग कम करने का यथार्थ उपदेश नहीं है। शुभराग करते-करते धर्म होगा– ऐसा जो शास्त्र कहते हैं, वे राग करने की ही पुष्टि कराते हैं। सत्शास्त्र कभी भी राग से धर्म मनाते ही नहीं। राग दूर होते-होते धर्म होता है, किन्तु राग करते-करते धर्म नहीं होता। सच्चे जैनशास्त्रों में तो राग के एक अंश से लेकर सम्पूर्ण राग को छुड़ाने का ही उपदेश है। राग का एक अंश भी रखने का उपदेश जैन शास्त्रों में होता ही नहीं। शुभराग करने की बात की हो वहाँ भी जो राग है, वह कराने का प्रयोजन नहीं है, परन्तु तीव्र राग था, उसे कम कराने का प्रयोजन है। वीतरागी शास्त्रों में राग छोड़ने का ही आदेश है, राग कहने से मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय-तीनों समझना चाहिए। मिथ्यात्वपूर्वक का राग ही अनन्तानुबंधी राग है, वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी राग-द्वेष सर्वप्रथम छोड़ने योग्य है।

सत्शास्त्र में शुभराग का उपदेश हो, वहाँ भी मोक्षमार्ग का ही प्रयोजन है, परन्तु राग स्वतः धर्म नहीं है।

प्रश्न :– सत्शास्त्र तो मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले होते हैं, तो फिर शास्त्र में जहाँ अज्ञानी को शुभराग करने की बात आती है, वहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किस प्रकार हुआ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं।

उत्तर :– अज्ञानी को शुभराग करना कहा हो, वहाँ राग का प्रयोजन नहीं है, किन्तु कुदेवादि की मान्यता से छुड़ाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म की मान्यता कराने का प्रयोजन है। वहाँ तीव्र मिथ्यात्व अंशतः मन्द हुआ, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तव में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। राग-मोक्षमार्ग नहीं है, और उससे धर्म भी नहीं होता, परन्तु कुदेवादि की मान्यता में जो तीव्र मिथ्यात्व है, वह वीतरागीदेव को मानने से मन्द पड़ता है, और सत्निमित्त होने से सत् समझने का अवकाश है, इससे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि हे आत्मन! तू स्वतन्त्र है, पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, राग तेरा स्वरूप नहीं है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों को साक्षात्‌रूप से अथवा परम्परा से मोक्षमार्ग में लगाने के लिए है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों के कल्याण के लिए होता है। कभी कोई जीव मोक्षमार्ग समझने की योग्यतावाला न हो तो उसे जिसप्रकार से राग अल्प हो, वैसा उपदेश देते हैं। जैसे, किन्हीं मुनिराज के पास कोई माँसाहारी भील आकर उपदेश सुनने बैठ गया; अब यदि मुनिराज उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देने लग जायें, तो उसमें वह कुछ भी न समझ सकेगा। इससे श्री मुनि उससे ऐसा कहेंगे कि – सुन भाई ! हिरन आदि निर्दोष जीवों को मार डालने से पाप होता है और उसके फलस्वरूप नरक होता है, इसलिए तू शिकार छोड़ दे और माँसभक्षण छोड़ दे, इससे तेरा कल्याण होगा।

माँस छोड़ देने से कल्याण होगा – ऐसा कहा है, वहाँ ऐसा आशय है कि वह दुर्गति में न जाकर स्वर्गादि में जायेगा; इस अपेक्षा से उसको कल्याण कह दिया है। और भविष्य में, यदि उसकी पात्रता हो तो ऐसा विचार करे अहो ! अकेला माँस का राग छोड़ा, उसका इतना फल ! तो सम्पूर्ण राग-रहित स्वभाव की महिमा कैसी होगी ! ऐसे विचार से वह मोक्षमार्ग में भी लग सकता है। इस प्रकार, सीधी रीति से अथवा परम्परा से भी जिनशासन में जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने का ही प्रयोजन है।

जब मुनिराज ने ऐसा कहा कि 'माँस भक्षण छोड़ दे, तेरा कल्याण होगा' यह सुनकर उस समय यदि वह भील विशेष जिज्ञासा से पूछे कि – प्रभो ! आप माँसभक्षण छोड़ने के लिए कहते हो तो उससे मुझे धर्म होगा न? और मेरी मुक्ति हो जायेगी? तो उस समय श्रीमुनि को ऐसा विचार आयेगा कि यह कोई पात्र जीव है, इससे इसे ऐसी धर्म की जिज्ञासा का प्रश्न उठा है और वह समझने की जिज्ञासा से खड़ा है। ऐसी उसकी पात्रता देखकर उसे रत्नत्रय का उपदेश देते हैं कि भाई ! हमने तुझे पाप से बचाने के लिए माँसभक्षण त्याग करने के शुभराग से कल्याण होना व्यवहार से कहा था, किन्तु यदि तुझे धर्म को समझने की रुचि है, तो धर्म का स्वरूप इस राग से भिन्न है। इस राग से धर्म नहीं है, परन्तु रागरहित आत्मा का चैतन्यस्वभाव समझने से धर्म है।

नरकादि गति से बचने की अपेक्षा से शुभराग से धर्म कह दिया है; परन्तु वास्तविक कल्याण (धर्म) तो उससे भिन्न है – इत्यादि प्रकार से जैसे जीव का हित हो, उसी प्रकार जिनशासन का उपदेश है।

जो सत्‌शास्त्रों को पढ़कर राग की पुष्टि करते हैं, वे स्वच्छन्दी हैं।

शास्त्र के कथन को पढ़कर जो जीव, राग-द्वेष-मोह की वृद्धि करने का आशय निकालते

हैं, वे जीव सत्शास्त्र के आशय को नहीं समझे हैं और वे स्वच्छन्दी हैं; उन जीवों को तो वे सत्शास्त्र हित का भी निमित्त नहीं हैं। शास्त्रों में तो राग-द्वेष-मोह की वृद्धि का आशय है ही नहीं, किन्तु वे जीव अपनी विपरीतश्रद्धा के कारण वैसा समझते हैं। उसमें शास्त्रों के कथन का दोष नहीं है, परन्तु जीव की समझ का दोष है। जो जीव यथार्थ आत्मस्वभाव को समझकर राग-द्वेष-मोह को कम करते हैं, उन्हें सत्शास्त्र निमित्तरूप कहलाते हैं।

शुभराग का क्या प्रयोजन है?

चारित्रदशा में पंचमहाव्रत का शुभराग होता है– ऐसा सत्शास्त्रों में कहा हो, तथापि वह कथन राग कराने के लिए नहीं है किन्तु स्वरूप की दृष्टि और स्थिरतासहित अशुभराग से बचाने का प्रयोजन है तथा जो पंचमहाव्रत का शुभराग रहा, वह तो छोड़ने के लिए है। धर्म तो एक निश्चयमार्गरूप ही है। शुभराग के द्वारा धर्म नहीं होता; धर्म तो पुण्य-पापरहित मात्र शुद्ध-स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप ही है।

सत्शास्त्रों में शृंगाररस, युद्ध, भोगादि के वर्णन का प्रयोजन।

सत्शास्त्रों में शृंगाररस, युद्ध, भोगादि का वर्णन आये, वहाँ भी उसका प्रयोजन जीव को पुण्य-पाप के फल की श्रद्धा उत्पन्न कराने का और उसके प्रति वैराग्य कराने का ही है। जैनशास्त्रों का सम्पूर्ण प्रयोजन तो जीव को पूर्ण वीतरागता कराना ही है; परन्तु जो जीव सम्पूर्ण वीतरागता का पुरुषार्थ न कर सके, उसे भी जैनशास्त्र किसी भी प्रकार अतत्वश्रद्धान को मन्द कराते हैं, तीव्र अशुभभावों को छुड़ाते हैं, और मिथ्यात्व को कम कराते हैं, तीव्र अशुभ भावों को छुड़ाते हैं, और मिथ्यात्व को कम कराते हैं।

अन्यमत के शास्त्रों में किसी प्रसंग पर राग मन्द करने को कहा हो तो दूसरे स्थानपर राग से धर्म मनाकर राग करने का उपदेश होता है; इस प्रकार वे शास्त्र अतत्वश्रद्धान और मिथ्यात्व के पोषक हैं, इससे वे असत् शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य नहीं है।

सत्शास्त्र स्वाधीनता बताकर वीतरागता की पुष्टि करते हैं।

जो शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से और उनके राग से धर्म होगा, उन्हीं का जीवों को शरण है, वे सत्शास्त्र नहीं हैं। सत्शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन भी आत्मा के धर्म के लिए नहीं है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष्य करो! इस प्रकार स्वाधीनता और वीतरागता बताते हैं।

शास्त्र में युद्धादि का वर्णन हो, वह विकथा नहीं, किन्तु वैराग्यपोषक कथा है

तीर्थंकर भगवान के पास इन्द्र नृत्य करते हैं, वहाँ शृंगारभाव की पुष्टि का हेतु नहीं है, परन्तु अपना अशुभराग छोड़कर वीतराग जिनदेव की भक्ति का, और लोगों को भी भक्ति-प्रेम कराने का हेतु है। इस प्रकार उसमें भी जीव कुमार्ग से छूटकर सत्धर्म की ओर उन्मुख हो – ऐसा हेतु है। इससे सत्शास्त्रों में नृत्यादि का वर्णन आता है, वह विकथा नहीं है। शास्त्र में विकथा के चार प्रकार कहे हैं, उसमें जो शब्द हैं, वह विकथा नहीं है। स्त्री के अवयवों आदि का और युद्धादि का वर्णन तो निर्ग्रन्थ मुनिराज भी करते हैं; मात्र इसका वर्णन करना या सुनना विकथा नहीं है; परन्तु उसकी रुचिपूर्वक अथवा रागपूर्वक सुनना, सो विकथा है। आचार्य-सन्त जिसका वर्णन करते हैं, वह तो वैराग्यपोषक कथा है। इससे ऐसा समझना कि भावानुसार वीतरागी कथा या विकथा कहलाती है, किन्तु मात्र शब्दों के ऊपर से उसका माप नहीं है। सत्शास्त्रों में जो वर्णन किया हो, वह किसी न किसी प्रकार वीतरागभावों का ही पोषक है; इससे उसमें विकथा नहीं है, किन्तु वैराग्य-पोषक कथा ही है।

जो राग-द्वेष-मोह की पुष्टि करते हैं, वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं

''जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष-मोह भावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वही शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य हैं, किन्तु जिन शास्त्रों में शृंगार, भोग, कुतूहलादि को पुष्टि करके रागभाव का; तथा हिंसा, युद्धादिक की पुष्टि करके द्वेषभाव का और अतत्त्वश्रद्धान की पुष्टि करके मोहभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं। क्योंकि राग-द्वेष-मोहभाव के द्वारा जीव अनादि से दुःखी हो रहा हे, उनकी भावना तो जीव को बिना सिखाये भी थी और फिर इन शास्त्रों द्वारा उसी की पुष्टि की; वहाँ जीव का भला होने की उन्हें कौनसी शिक्षा दी? मात्र जीव के स्वभाव का घात ही किया।'' [मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय-१]

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से स्वतन्त्र है– ऐसा तत्त्वस्वरूप है। जिस ग्रन्थ में एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व से पराधीन मनाया हो अथवा एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ कर सकता है – ऐसा मनाया हो, वह शास्त्र नहीं परन्तु शस्त्र हैं, क्योंकि वह जीव के सम्यग्दर्शनादि गुणों का घात करता है और मिथ्यात्वादि की पुष्टि करता है। जिसमें राग-द्वेष-मोह की पुष्टि की हो, वह शास्त्र नहीं है; क्योंकि राग-द्वेष-मोह तो जीव अनादि से कर रहा है। अनादि के राग-द्वेष-मोह से छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने के लिए सत्शास्त्र निमित्त हैं।

जिनेन्द्रदेव की पूजा में वीतरागता का प्रयोजन किस प्रकार है?

प्रश्न :– जैनशास्त्रों में तो राग-द्वेष-मोह को कम करने का ही प्रयोगजन है, तो फिर जिनेन्द्रदेव के निकट अष्टप्रकार से पूजा करे और उसमें फल-फूलादि चढ़ाये, यह किसलिए करना चाहिए? इसमें तो हिंसा होती है।

उत्तर :– वहाँ भी राग को कम करने का ही हेतु है। बाह्य पदार्थों की क्रिया तो आत्मा कर नहीं सकाता किन्तु वीतरागता की भावना से अपना राग कम करता है। हे प्रभो! आप वीतराग हो, आपकी साक्षी से मैं इन फलादि वस्तुओं की ओर के अपने राग को कम करत हूँ और मोक्षफल –प्राप्ति की भावना करता हूँ – ऐसी भावना से वीतराग-देवरूप निमित्त के लक्ष्य से अपना राग कम करता है। फलादि चढ़ाने की क्रिया स्वतः उसकी योग्यता से होती है। जैनधर्म में भगवान को प्रसन्न करने के हेतु से फल-फूलादि नहीं चढ़ाये जाते और भगवान की प्रतिमा पर तो कुछ भी चढ़ाया ही नहीं जाता। परन्तु अपनी वीतराग होने की भावना से ही भगवान की पूजा की जाती है। आत्मा की पहचान होने से पूर्व जिनेन्द्र पूजन आदि का शुभराग करके अशुभराग को दूर करे, उसका कहीं निषेध नहीं है। उसी प्रकार 'भगवान एक आत्मा थे, और मैं भी आत्मा हूँ; भगवान का जैसा परिपूर्ण स्वरूप है –वैसा ही मेरा स्वरूप है' – ऐसा पूर्ण-स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी, जब तक सम्यग्दृष्टि स्वतः साक्षात् वीतराग नहीं हुआ है, तब तक वीतराग मुद्रित प्रतिमाजी में वीतरागदेव की स्थापना करके और उनकी पूजा करके वर्तमान में अपना अशुभराग दूर करता है और शुभराग को भी हटाकर वीतराग होने की भावना करता है। इस प्रकार जैन शास्त्रों में वीतरागता का ही उपदेश है और कहीं-कहीं अशुभराग को दूर करने के लिए शुभ का अवलम्बन भी बताया है, परन्तु वह शुभराग करने के लिए नहीं है, मात्र अशुभराग को दूर करने के लिए है। सत्शास्त्रों का मूल प्रयोजन जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने का ही है। इस प्रकार सत्शास्त्रों का स्वरूप कहा।

ज्ञान और ज्ञेय का स्वतन्त्र परिणमन

ज्ञान अपने स्वभाव से होता है, शब्द सुनने के कारण नहीं होता। घड़ी में आठ टकोरे पड़े इसलिए 'आठ बजे' ऐसा ज्ञान हुआ – ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में ज्ञान की वैसी योग्यता से ही वह ज्ञात हुआ, टकोरों के कारण नहीं। जड़-शब्द, जड़ के कारण परिणमित होता हैं और ज्ञान, ज्ञान के कारण परिणमित होता है। ज्ञान और ज्ञेय का परिणमन एक ही समय प्रवर्त रहा है, किन्तु दोनों स्वतन्त्र हैं।

घड़ी में नौ बजने में पाँच मिनट कम हों, तब ज्ञान भी वैसा ही जानता है, और कोई पूछे कि कितने बजे हैं? तो वाणी में भी ऐसा ही आता है कि 'नौ में पाँच मिनट कम हैं' और पूछनेवाले को भी ऐसा ही ज्ञान होता है। इस प्रकार सब व्यवस्थित होने पर भी, प्रत्येक-प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपने स्वकल में ही, पर की अपेक्षा के बिना परिणमित हो रहा है।

घड़ी में नौ में पाँच कम हों, तब ज्ञान वैसा ही जानता है, किन्तु 'बारह बजे हैं' –ऐसा नहीं जानता, तथापि घड़ी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान के कारण 'नौ में पाँच कम है'– ऐसी वाणी नहीं हुई है और उस वाणी के कारण दूसरे जीव को उसका ज्ञान नहीं हुआ है।

घड़ी में आठ बजकर पाँच मिनट हुए हों, तब ज्ञान वैसा ही जानता है, किन्तु बारह बजे हैं– ऐसा नहीं जानता; वहाँ घड़ी के कारण ज्ञान नहीं होता। घड़ी में इतने बजे थे, इसलिए इतना ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है। वैसे ही ज्ञान ने जैसा जाना, वैसा ही भाषा आती है, और सामनेवाला जीव भी वैसा ही समझ जाता है – ऐसा मेल होने पर भी ज्ञान ने जाना, इसलिए भाषा नहीं हुई और भाषा के कारण सामनेवाले जीव को उसका ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान की अवस्था स्वावलम्बी चैतन्य के आश्रय से ही कार्य करती है–ऐसा समझकर, अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा प्रगट करना, वह सम्यक्श्रद्धा है; परन्तु घड़ी आदि ज्ञेयों के कारण या शब्दों के कारण ज्ञान हुआ – ऐसा जो मानता है, उस जीव ने आत्मा में ज्ञान और शांति नहीं मानी है, इसलिए वह जीव अपने स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता। प्रशंसा के शब्द जगत में परिणमित हों उनसे आत्मा को सुख या ज्ञान नहीं है, तथापि यदि उनसे सुख या ज्ञान माने तो उस जीव का ज्ञान पर में एकाग्र हुआ है, वह ज्ञान अचेतन है – अधर्म है। शब्दों से और उस ओर के क्षणिक ज्ञान से पृथक् अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है – ऐसा अभिप्राय होने पर, शब्दों का या अपूर्ण दशा का आश्रय छोड़कर वर्तमान अवस्था पूर्णस्वभाव की ओर उन्मुख होती है। द्रव्य-गुण

तो त्रिकाल पूर्ण हैं ही, और उस ओर उन्मुख होती हुई अवस्था थी परिपूर्ण को ही स्वीकार करती है, इससे वह अवस्था भी पूर्ण के आश्रय से पूर्ण ही होती है।

वाणी अपने अचेतनत्व से भरी हुई है और मैं अपने चैतन्यत्व से परिपूर्ण हूँ। मेरे ज्ञान को वाणी की आवश्यक्ता नहीं है और वाणी को मेरे ज्ञान की आवश्यक्ता नहीं है,– ऐसा जानकर जीव, वाणी का एवं वाणी की ओर के रागादि का आश्रय छोड़कर चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेता है। चैतन्यस्वभावी आत्मद्रव्य के लक्ष्य से प्रतिसमय स्वभाव की शुद्धता में वृद्धि होती जाती है – इसका नाम सर्वविशुद्ध ज्ञान है। [भेदविज्ञानसार]

शुद्ध ज्ञानस्वरूप के अनुभव का उपदेश

(१) स्व में एकता का अभिप्राय, सो धर्म और पर में एकता का अभिप्राय, सो अधर्म

ज्ञान को स्वोन्मुख करके ऐसी प्रतीति की कि – ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, और पुण्य-पाप तथा परवस्तुएँ में नहीं हूँ – वही अनेकान्त है। जो पुण्य-पाप है, वही मैं हूँ, उससे पृथक् कोई मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा मानना, सो एकान्त है, मिथ्यात्व है, और वही पुण्य-पाप की उत्पत्ति का मूल है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ–ऐसी प्रतीति, सो पुण्य-पाप का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करने का मूल है। बस, स्व में एकता का अभिप्राय, सो धर्म है और पर में एकता का अभिप्राय, सो अधर्म है। जिसका स्व में एकता का अभिप्राय है, उसको स्व के आश्रय से धर्म की ही उत्पत्ति है, और जिसका पर में एकता का अभिप्राय है, उसको पर के आश्रय से अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। जिसे पुण्य-पाप का ही उत्पाद भासित होता है, उसे उस समय उसका व्यय भासित नहीं होता; पुण्य-पाप के समय पुण्य-पाप का व्यय करनेवाला स्वभाव है, वह उसे भासित

नहीं होता। पुण्य-पाप से पृथक् पुण्य-पाप का व्यय करने वाला स्वभाव जिसे भासित नहीं होता, वह पुण्य-पाप का व्यय नहीं कर सकता, इससे उसके शुद्धता नहीं होती। जिसे पुण्य-पापरहित स्वभाव का का भान है, वह जीव, पुण्य-पाप के समय स्वभाव की एकतारूप ही उत्पन्न होता है, इससे उस समय भी उसे ज्ञान की शुद्धता की ही उत्पत्ति होती है; पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह 'सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार' है इससे, स्वभाव की श्रद्धा से पर्याय में प्रतिसमय ज्ञान की विशुद्धता होती जाती है—उसका यह वर्णन है।

(२) ज्ञानी के ज्ञान की वृद्धि होती है और ज्ञानी के विकार की

हे भाई! जिस क्षण पुण्य-पाप है, उस क्षण आत्मस्वभाव है या नहीं? यदि है तो उस समय तुझे अपना ज्ञान आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ प्रतिभासित होता है या पुण्य-पाप की ओर ही उन्मुख हुआ भासित होता है? जिसका ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख है, उसके तो पुण्य-पाप के समय आत्मस्वभाव में एकतारूप ही ज्ञान कार्य करता है, इससे ज्ञान की शुद्धि बढ़ती जाती है, और जिसका ज्ञान आत्मस्वभाव का आश्रय छोड़कर पुण्य-पाप में ही उन्मुख है, उसके मिथ्याज्ञान है, उसके ज्ञान का हनन होता है और पुण्य-पापरूप विकारभावों की वृद्धि होती है।

एक ही समय में त्रैकालिक स्वभाव और क्षणिक पुण्य-पाप दोनों हैं। उनमें त्रैकालिकस्वभाव का अस्तित्व स्वीकार करके उसका आश्रय करना सो धर्म का मूल है; और त्रैकालिक स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार न करके पर का और क्षणिक पुण्य-पाप का अस्तित्व मानना सो मिथ्यात्व है, व पाप का और क्षणिक पुण्य-पाप का अस्तित्व मानना सो मिथ्यात्व है, व पाप का मूल है। ज्ञानी को, त्रिकालीस्वभाव की ओर उन्मुख हुए परिणामों से प्रतिसमय निर्मलस्वभाव ही प्रतिभासित होता है और विकार की उत्पत्ति भासित नहीं होती – अज्ञानी को विकार की उत्पत्ति ही भासित होता है, परन्तु शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित नहीं होता, इससे उसके शुद्धता की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित नहीं होता, इससे उसके शुद्धता की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित होता है और उसमें पुण्य-पाप का अस्तित्व भासित नहीं होता इससे उसके वास्तव में शुद्ध आत्मा की ही उत्पत्ति होती है और पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती।

(३) स्वभावोन्मुख ज्ञान स्वसमय है और वही मोक्षमार्ग है

यहाँ परसमय को दूर करके स्वसमय को प्राप्त करके की बात की है। अपने ज्ञानरूपी नेत्रों को जिधर स्थिर करे, उसका अस्तित्व भासित होता है और उस ओर परिणमन होता है। मिथ्यात्व

ही पुण्य-पाप का मूल है – ऐसा कहकर मिथ्यात्व का नाश करना कहा है। मिथ्यात्व को दूर करने से पुण्य-पाप भी दूर हो ही जाते हैं। मिथ्यात्व को पुण्य-पाप का मूल कहा, उसमें यह भी आ गया कि सम्यक्त्व वीतरागी चारित्र का मूल है। स्वभाव की श्रद्धा करके ज्ञान उसमें स्थिर हुआ, वही चारित्र है। ज्ञान अपने आत्मस्वभाव में स्थिरता करे – उसी में दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है। स्वभावोन्मुख ज्ञान स्वतः मोक्षमार्ग है। जो ज्ञान आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित हुआ, उसमें मोक्षमार्ग आ गया।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुए आत्मा को प्राप्त करना, सो स्वसमय की प्राप्ति है। स्वभावोन्मुख निर्मलदशा को यहाँ स्वसमय की प्राप्ति कहा है, वही मोक्षमार्ग है, और वही धर्म है। आत्मा स्वतः ही मोक्षमार्गरूप परिणमित हो जाता है, आत्मा के स्वभाव की पहचान करके, आत्मा में ही प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके शुद्धज्ञान को देखना – ऐसा यहाँ आचार्यदेव का उपदेश है। वह शुद्धज्ञान त्याग-ग्रहण से रहित है, उसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है, वह साक्षात् समयसारभूत है और परमार्थरूप है– ऐसे शुद्धज्ञान को सर्व पर वस्तुओं से स्पष्टरूप भिन्न अनुभवन करना!

(४) ज्ञान में पर का ग्रहण त्याग नहीं है

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में किसी परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं है। ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करने से अर्थात् ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से विकार छूट जाता है; वही स्वभाव का ग्रहण और विकार का त्याग है। इसके अतिरिक्त पर का कुछ भी ग्रहण-त्याग ज्ञान में नहीं है। तत्त्वार्थराजवार्त्तिक में कहा कि आत्मा के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं, जो वह परवस्तुओं को पकड़े और छोड़े। परमार्थ से तो आत्मा, विकार का भी ग्रहण या त्याग करनेवाला नहीं है। 'मैं विकारी हूँ' – ऐसी विपरीतश्रद्धा का त्याग हुआ, वही विकार का त्याग है और 'विकाररहित शुद्धस्वभाव है'–ऐसी श्रद्धा की, वही स्वरूप का ग्रहण है। अज्ञानदशा में जीव, पर का ग्रहण-त्याग करना मानता है, परन्तु पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। जिस प्रकार नदी में पानी बहता जा रहा हो, वहाँ कोई किनारे पर खड़ा हुआ मनुष्य माने कि 'यह पानी मेरा है' और फिर वह कहे कि 'अब मैं इस पानी को छोड़ देता हूँ', वहाँ पर वास्तव में उस मनुष्य ने पानी को छोड़ा भी नहीं है और पकड़ा भी नहीं है। पानी तो अपने प्रवाह में बहता ही जाता है। उस मनुष्य ने पानी का ग्रहण-त्याग करने की मान्यता की थी, परन्तु पानी का ग्रहण या त्याग नहीं किया है। मनुष्य तो पानी के ग्रहण-त्याग से रहित है। इस दृष्टान्त से ज्ञान को भी ग्रहण-त्याग रहित समझना चाहिए; यह जगत के पदार्थ सब अपने-अपने

स्वभावक्रम में परिणमित होते हैं, वहाँ ज्ञान तो उनसे पृथक् रहकर उन्हें जानता है, परन्तु उनका ग्रहण या त्याग नहीं करता। परमार्थ से तो ज्ञान में विकार का भी ग्रहण-त्याग नहीं है। 'विकार को छोड़ो, विकार के निमित्तों को छोड़ो, कुसंग को छोड़े'– ऐसे उपदेश चरणानुयोग में आये, वह कथन निमित्त का है। उपदेश में तो ऐसे वचन आते हैं, परन्तु वस्तुस्वभाव ही परवस्तु के ग्रहण और त्याग से रहित है; ज्ञान में परवस्तु का ग्रहण– त्याग नहीं है–ऐसा स्वभाव है।

आज अनेक अज्ञानी कहते हैं कि अब सक्रिय काम करके दिखाओ! परन्तु भाई! तू क्या करेगा? क्या ज्ञान से तू पर का कार्य कराना चाहता है? परवस्तु में कुछ भी ऊँच-नीच, आगे-पीछे करने का शक्ति ज्ञान में नहीं है। ज्ञान का स्वभाव ही पर में कुछ न करने का है। ज्ञान तो आत्मा में जानने और स्थिर रहने की क्रिया करता है, इसके अतिरिक्त पर में कुल भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। जैसे दुकान में दर्पण लगाया हो, उसमें अनके प्रकार के मोटर, गाड़ी मनुष्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, और फिर चले जाते हैं; वहाँ दर्पण ने उन वस्तुओं का ग्रहण या त्याग नहीं किया है; वैसे ही ज्ञान में सबकुछ ज्ञात होता है, परन्तु ज्ञान किसी का ग्रहण या त्याग नहीं करता। ऐसे ग्रहण-त्याग रहित, साक्षात् समयसारभूत शुद्ध-ज्ञान का अनुभवन करना चाहिए–ऐसा यहाँ उपदेश है। [भेदविज्ञानसार]

धर्मी और अधर्मी का अन्तर कैसे जाना जाता है?

प्रश्न :– 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह पर का कुछ नहीं कर सकता'– ऐसा सुनने और समझनेवाले भी व्यापार-धंधा अथवा घरबार छोड़कर त्यागी तो हो नहीं जाते? जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं, वैसा ही यह सुननेवाले भी करते हैं, तो फिर हममें और उनमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तर :– बाह्यदृष्टि से देखनेवाले अनेक जीवों को उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका उत्तर समझने की मुख्य आवश्यकता है; जिन जीवों को स्वयं सत्य नहीं समझना है और दूसरे जीव सत्य को समझ रहे हों, वे अपनी अपेक्षा कुछ अच्छा कर रहे हैं – ऐसा भी नहीं मानना है, वे जीव

अपने स्वच्छन्छ की पुष्टि के लिए ऐसा कहते हैं कि – सत्य समझनेवाले भी हमारे जैसे हैं। आप स्वयं अन्तर के भाव को तो समझते नहीं हैं, इससे वे जीव बाह्य-संयोग देखकर उनपर से धर्म का माप निकालते हैं। ऐसे जीवों को शास्त्र में बहिरात्मा कहा है। बहिरात्मा जीवों को उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका यहाँ समाधान करते हैं। 'जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं, वैसा ही सत्य का श्रवण करनेवाले भी करते हैं' – ऐसा उपरोक्त प्रश्न में कहा है; परन्तु हे भाई ! सर्वप्रथम मूल बात तो यह कि –बाह्य में व्यापार-धंधा आदि जड़ की कोई भी क्रियाएँ तो तू भी नहीं करता और न दूसरे आत्मा ही करते हैं। ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी आत्मा, जड़ की क्रिया तो करता ही नहीं; मात्र अन्तर का भाव करता है; और उस अन्तरङ्गभाव से ही धर्म-अधर्म का माप हो सकता है। बाह्य संयोगों पर से धर्म-अधर्म का माप नहीं हो सकता। कोई जीव व्यापार-धंधा और घरबार छोड़कर नग्न होकर जंगल में रहता हो, तथापि महान अधर्मी भी होता है और अनन्तसंसार में परिभ्रमण करता है। और किसी जीव को बाह्य में राजपाट का अथवा व्यापार-धंधे का संयोग हो, तथापि अन्तर में आत्मस्वभाव का भान है, पहचान है, वैसा जीव महान धर्मात्मा और एकावतारी अथवा उसी भव में मुक्तिगामी भी होता है। इसलिए अन्तर के भावों को देखना चाहिए, बाह्य से धर्म को माप नहीं होता।

बाह्यसंयोग समान होने पर भी एक को प्रतिक्षण धर्म और दूसरे को अधर्म

सत्य को सुनने और समझनेवाले जीवों को और उससे विमुख जीवों को बाह्य में व्यापारादि संयोग समान हैं, तथापि सत्य को समझनेवाले जीवों को उस समय आत्मस्वभाव का भान है, राग से भी भिन्न अपने आत्मा की श्रद्धा करते हैं, और ऐसा नहीं मानते कि बाह्य के कार्य हम कर सकते हैं; इससे उनको राग-द्वेष अत्यन्त अल्प होते हैं और उसी समय राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा होने से उन्हें धर्म होता है, राग-द्वेष का पाप अत्यन्त अल्प है। और जिसे सत्य की दरकार नहीं है, ऐसे जीव उन व्यापारादि जड़ की क्रिया को अपनी मानते हैं और उसके कर्तृत्व का अभिमान करते हैं, इससे उनके अज्ञान का महान भारी पाप प्रतिक्षण बंधता है। इस प्रकार बाह्य के संयोग समान होने पर भी, ज्ञानी और अज्ञानी के अन्तरङ्ग में आकाश-पाताल जितना महान अन्तर होता है। संयोगदृष्टि से देखनेवाला जीव इस अन्तर को कैसे समझेगा?

धर्मी जीव के किसका त्याग होता है?

लोग बाह्य का त्याग चाहते हैं, परन्तु परपदार्थ तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं। परपदार्थ कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं कि आत्मा उनका त्याग करे? पहले अज्ञानभाव से परद्रव्यों

को अपना मानता था और उनका अहंकार करता था, परन्तु अब यथार्थ समझ होने से ऐसा जाना कि आत्मा सर्व पर से पृथक् है, इससे तीनलोक के समस्त पदार्थों में से अपनेपन की विपरीत मान्यता छोड़ दी, वही मिथ्यात्वरूप अधर्म का त्याग है। यह त्याग अज्ञानी के दिखायी नहीं देता। बाह्य पदार्थ का त्याग या ग्रहण आत्मा नहीं करता, अन्तर में सत्य भावों का ग्रहण और विपरीत भावों का त्याग करे, वही धर्म है।

सत्य की स्वीकृति और अस्वीकृति करनेवाले जीवों में महान अन्तर

पुनःश्च, सत्य को समझने के जिज्ञासु जीव, सत्य को स्वीकार करके उसका आदर करते हैं, उसकी रुचि से उसे समझने का प्रयत्न करते हैं और उसके लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं, जबकि दूसरे जीवों को सत्य समझने की दरकार नहीं है, उसकी रुचि नहीं है और उलटा सत्य का अनादर करते हैं। देखो! दोनों के परिणामों में कितना अन्तर है! बाह्य-संयोग समान होने पर भी, एक को सत्य की जिज्ञासा है और दूसरे को उसकी अवहेलता है; तो क्या उनमें अन्तर नहीं हुआ? एक जीव, सत्य का श्रवण-मनन-भावना करने में दिन का अमुक भाग निवृत्ति लेता है और दूसरा जीव किंचित् निवृत्ति नहीं लेता, तो क्या पहले जीव ने उतन राग नहीं छोड़ा? श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि भगवान आत्मा की बात सुनकर रुचिपूर्वक उसे स्वीकार करनेवाला जीव भविष्य में मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। एक जीव, सत्य की रुचिपूर्वक स्वीकार करता है और दूसरा अस्वीकार करता है, तो उनमें कितना अन्तर है। सत्य के स्वीकार करनेवाला जीव अपनी मान्यता में त्रिकाल सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करता है और सत्य को अस्वीकार करनेवाला जीव अपनी मान्यता में त्रिकाल सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण करता है, यह अन्तरङ्ग का ग्रहण-त्याग अज्ञानी की दृष्टि में नहीं आता और बाह्य पदार्थों के ग्रहण-त्याग का अभिमान करता है।

बाह्य संयोगों मे स्थित धर्मात्मा क्या करते हैं?

श्रीमद्* राजचन्द्रजी ज्ञानी पुरुष थे; आत्मस्वभाव का भान था, तथापि गृहस्थाश्रमी थे। बाह्य में लाखों रुपये का हीरे-जवाहरात का व्यापार था, परन्तु उस समय उनके आत्मा में पर का स्वामित्व किंचित् भी नहीं था। अन्तर में से शरीरादि के स्वामित्व हट गया था। अल्प राग था, उसके भी स्वामी नहीं होते थे; रागरहित स्वभाव के आश्रय से वे सबका ज्ञान ही करते थे। बाह्य में व्यापारादि की क्रिया उसके (जड़ के) कारण से होती थी, पर्याय की निर्बलता से अल्पराग भी होता था, परन्तु उस समय भी एक समयमात्र को चैतन्य के स्वामित्व से च्युत नहीं होते थे और

* आप सौराष्ट्र में करीब ५० वर्ष पूर्व हो गये हैं।

राग का अथवा पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते थे। अज्ञानी जीवों को तो वे बाह्य क्रिया और राग करते दिखायी दें; परन्तु ज्ञानी के अन्तरङ्ग स्वभाव की उन्हें खबर नहीं पड़ती। ज्ञानी तो अपने परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव के स्वामी हैं और उस स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण-पर्याय-पर्याय में उनके ज्ञान की विशुद्धता होती जाती है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव की एकता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करते।

पर का ग्रहण -त्याग किसी के नहीं है

इस जगत में कौनसा जीव, रुपया-पैसादि परवस्तु को प्राप्त कर सकता है? और कौन सा जीव उसे छोड़ सकता है? 'मैंने पैसे को छोड़ दिया' इस प्रकार मूढ़ जीव मात्र अहंकार करता है। अज्ञानी जीव भी परद्रव्य में कुछ नहीं करता है। हाँ, वह जीव अपने में ममत्व की वृद्धि या हानि करता है। परमार्थ से तो ममत्वभाव का भी ग्रहण या त्याग आत्मस्वभाव में नहीं है।

अज्ञानी बाह्यत्यागी, तथापि अधर्मी; ज्ञानी गृहस्थ, तथापि धर्मी

जो जीव, परद्रव्य का स्वामी होता है, वह अचेतन का स्वामी होता है। अज्ञानी जीव बाह्य में सबकुछ छोड़कर जंगल में जाकर रहे, इसलिए उसके अन्तर में परवस्तु का स्वामित्व छूट गया है – ऐसा नहीं समझना चाहिए। और ज्ञानी के बाह्य में लक्ष्मी आदि का संयोग हो, इससे उसके परद्रव्यों का स्वामित्व है– ऐसा नहीं समझना चाहिए। ज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम में होनेपर भी वह चैतन्य का ही स्वामी है, इससे वह धर्मी है। और बाह्य त्यागी अज्ञानी जीव पर के त्याग का अहंकार करता है – परद्रव्य को मैंने छोड़ा है, ऐसा अभिमान करता है, उस जीव की मान्यता में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व विद्यमान है, इससे वह अधर्मी है।

जिज्ञासु जीव की पात्रता और अन्तर की अपूर्व धर्मक्रिया

'आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है, पुण्य-पाप के आश्रय से आत्मा को लाभ नहीं है, परवस्तुएँ आत्मा से बिल्कुल पृथक् हैं, उनका आत्मा कुछ नहीं कर सकता'– इस प्रकार ज्ञानियों के निकट जाकर जो सत्य को समझने की जिज्ञासा करता है, उस जीव के राग की बहुत मन्दता हो गई है। बारंबार वीतराग-स्वभाव का श्रवण करने में इन्कार नहीं करता और रुचिपूर्वक स्वभाव को समझने के लिए समय लगाता है, उस जीव के प्रतिक्षण मोह की मन्दता होती रहती है। दूसरे जीव को सत्श्रवण की बात नहीं रुचती और उल्टी अरुचि दिखलाता है, उसका मोह दृढ़ होता जाता है। जिसको निवृत्त-स्वरूप रागरहित आत्मस्वभाव की बात का बार-बार परिचय करना रुचता है, उस जीव के अन्तर में वीतरागता और निवृत्ति जंची है या नहीं? और उतने अंशों में राग से और

संसार से उसकी रुचि छूट गई है या नहीं? बस, इसमें स्वभाव के लक्ष्य से तीव्रकषाय छूटकर मन्दकषाय हो गई, वह शुभक्रिया है, और उस शुभ से भी आत्मस्वभाव पृथक है; इस प्रकार बारंबार रागरहित स्वभाव की भावना करते से स्वभाव की ओर अंशतः ज्ञान की एकाग्रता होती जाती है, उतनी ज्ञानक्रिया है। वह रागरहित है तथा वह धर्म का कारण होती है। और इसी प्रकार स्वभाव की रुचि का मंथन करते-करते जैसा परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव है– वैसा यथार्थ समझ जाता है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, वह तो अपूर्व धर्मक्रिया है; वह क्रिया अनन्त जन्म-मरण का नाश करनेवाली है। जीव ने अनादिकाल में एक क्षणमात्र भी ऐसी क्रिया नहीं की है; यदि एक क्षणमात्र भी ऐसी समझरूप क्रिया करे तो जीव की मुक्ति हुए बिना न रहे।

सत् की रुचि ही धर्म का कारण है

पैसा कैसे पैदा होता है, उसकी बात ज्ञानी नहीं करते परन्तु मात्र सत्स्वभाव की वीतरागी बात कहते हैं, उसे सुनने में कितने ही जीवों को रुचि होती है और अनेक जीव उसे सुनना ही नहीं चाहते, तो उन दोनों में कितना अन्तर है? जिसे सत्स्वभाव की बात नहीं रुचती, वह जीव सत् सुनने में भी नहीं रुकता और उसके सत् समझने की पात्रता भी नहीं है। जो जीव सत् का आदर करके बारंबार श्रवण-मनन करता है, वह जीव बाह्य में भले ही व्यापार-धंधा अथवा घरबार का राग न छोड़ सके, तो भी उसका भाव पहले जीव की अपेक्षा श्रेष्ठ है और उसमें सत् को समझने की पात्रता है। दोनों जीवों के बाह्य में व्यापारादि होने पर भी एक को रागरहित स्वभाव रुचता है और दूसरे जीव को व्यापारादि एवं राग की रुचि है; यह रुचि का फेर है, रुचि ही धर्म-अधर्म का कारण है। स्वभाव की रुचि धर्म का कारण है और संयोग की रुचि अधर्म का कारण है।

जिन जीवों को सत्य आत्मस्वभाव समझने की जिज्ञासा हुई है, और उसके लिये बारंबार सत्समागम में रुकते हैं ऐसे जीवों को अपूर्व आत्मधर्म कैसे प्रगट हो, यह बात यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वभाव का निर्णय करने से अपने में स्वभाव की पूर्णता का स्वीकार होता है, वही अपूर्णता और विकार को नाश करने का उपाय है। अपूर्णदशा जितना या राग जितना अपने आत्मा को न मानकर उसे परिपूर्ण स्वरूप से स्वीकार करना वही प्रथम अपूर्व धर्म है।

[भेदविज्ञानसार]

समयसार जयवंत है!

[श्री नियमसार के शुद्धभाव-अधिकार के व्याख्यानों से]

[मालिनी]

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारपारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः।।

(नियमसार, गाथा ३८ टीका)

सर्व तत्त्वों में सारभूत एक समयसार (अर्थात् शुद्धात्मा) जयवंत है। कैसा है समयसार? सम्पूर्ण विलय अर्थात् विकारों से दूर है–जिसका नाश करना कठिन है ऐसे कामदेव को नष्ट कर दिया है, पुण्य-पाप और अज्ञानरूपी जो दुरित वृक्ष है उसे काटने के लिये कुल्हाड़ी के समान है; शुद्धज्ञान का अवतार है; सुख से भरपूर सागर है और क्लेश के समुद्र से पार है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त तत्त्वों में उत्कृष्टरूप यह समयसार जयवंत है। शुद्ध आत्मा में नवतत्त्वों के विकल्प का अवकाश नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव की जय हो और भेद के विकल्पों का क्षय हो;–यही महान मांगलिक है। जिसे शुद्धात्मा की रुचि और महिमा हो, वही ऐसा कहता है कि शुद्धआत्मा समयसार जयवंत है। प्रथम तो ऐसे स्वभाव की रुचि और पहिचान करना चाहिये। आत्मस्वभाव की पहिचान होने से उसीसमय पर्याय में से समस्त पुण्य-पाप दूर नहीं हो जाते; परन्तु स्वभाव तो निरंतर समस्त विकारों से दूर ही है–उसकी श्रद्धा और ज्ञान होता है तथा विकार का आदर दूर हो जाता है। नवतत्त्वों का विचार है, वह राग है, उस राग से रहित मात्र ज्ञाता ही मेरा स्वरूप है, यही समस्त तत्त्वों का सार है। सर्व तत्त्वों में साररूप भगवान आत्मा जयवंत है–शुद्धात्मा ही जयवंत है, इससे हमारे पर्याय में शुद्धात्मा का ही उत्पाद होओ! और अशुद्धता का नाश हो जाओ! जो शुद्धात्मा को ही जयवंतरूप देखता है उसकी पर्याय में शुद्धता का ही उत्पाद होता है।

आत्मा स्वयं एक परम उत्कृष्ट समयसार तत्त्व है। अनन्त परद्रव्यों में स्वतः कुछ कर सकता है–ऐसा जो मानता है, उसे भगवान ने जैन नहीं कहा है। जैन अर्थात् जीतनेवाला; जो शुद्धचैतन्यस्वभाव है, सो मैं हूँ; जो पुण्य है, सो मैं नहीं हूँ; विकार मेरा कर्तव्य नहीं है–ऐसे भेदज्ञान के बल से जो विकार को जीते (नष्ट करे), वह जैन है। ऐसे भेदज्ञान के बिना जीव का अनन्तकाल गया और अनन्त अवतार हुए, महापाप करके अनन्तबार नरक गया और बाह्य जैन

साधु होकर महान पुण्य करके नवमें ग्रैवेयक में भी अनन्तबार गया, परन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ, क्योंकि उपादेयरूप अपना निश्चयस्वभाव क्या है, उसे कभी नहीं जाना। व्यवहार तो बंधनमार्ग है, बंधनमार्ग से तीन काल में अबंधतत्व विकसित नहीं होता। जो बन्धभावों से दूर है– ऐसे उत्कृष्ट चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करे तो बंध दूर हो और मुक्ति प्रगटे।

अनन्तकाल से शुद्धात्मा की महिमा नहीं जानी और पुण्य का– राग का-व्यवहार का आश्रय माना, इससे उन पुण्यादि की जय थी अर्थात् उन पुण्य और राग को सदा बनाये रखने की भावना थी, वह अज्ञान था। अब, जहाँ शुद्ध आत्मा की दृष्टि हुई, वहाँ साधक जीव कहता है कि अहो! यह शुद्धआत्मा ही सदैव जयवन्त है। रागादि की जय कभी हुई ही नहीं। पूर्व अनन्तकाल में रागादि के समय भी एकरूप शुद्धआत्मा ही जयवन्त प्रवर्तमान था। एकरूप शुद्ध आत्मा की ही जय हो और पुण्य-पाप विलीन हो जाओ! त्रैकालिक स्वभाव में तो रागादि का अभाव है ही, उस स्वभाव की भावना से वर्तमान पर्याय में शुद्ध आत्मा प्रगट होओ, और रागादि नष्ट हो जाओ!

यह समयसार जयवन्त है और पुण्य-पापरूप विकारी भाव तो नाश होने योग्य हैं। उन नाश होने योग्य विकारी भावों से समयसार पृथक् ही है। आत्मा-चैतन्यस्वभावमात्र है, उसके स्वरूप में विकार है ही नहीं। जहाँ आत्मा विकार का ही कर्ता नहीं है, तो पर का कुछ करे– यह तो बात ही कहाँ रही?

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव समयसार की टीका के ६२वें श्लोक में कहते हैं कि ''आत्माज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोतिकिम्'' आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या कर सकता है? अरे प्राणियो! तुम्हारा आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता– ऐसा तुम समझो! आत्मा ज्ञातस्वरूप ही है, तथापि अज्ञानी मानते हैं कि – हम जड़ की क्रिया करते है, ऐसे जीवों के लिए फिर आचार्यदेव कहते हैं कि – ''मोहोऽयं व्यवहारिणाम्'' – आत्मा परभावों का कर्ता है – ऐसा मानना, सो व्यवहारी जीवों को मोह है–अज्ञान है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव, राग की क्रिया का कर्ता होता है, परन्तु रागरहित अपना सहज ज्ञानस्वभाव है, उसे नहीं मानता। शुद्धस्वभाव में अभेद होकर परिणमन करना चाहिए, उसके बदले अज्ञान के कारण रागादि में एकत्व मानकर परिणमित होता है, वही अधर्म है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वतः ज्ञान ही है। ज्ञानस्वरूप से ही आत्मा त्रिकाल जयवन्त है, उसमें राग अथवा जड़ की क्रिया तीनलोक और तीनकाल में नहीं है; तथापि ऐसे भगवान आत्मा को ज्ञान के अतिरिक्त परभावों का कर्ता मानना और रागादि परभावों को अपना स्वरूप मानना, वह मूढ़-अज्ञानी जीवों का व्यवहार है, यह व्यवहार ही अधर्म है; अपने स्वभाव में तो विकार नहीं

है, तथापि अज्ञानी जीव, मोह से उन्मत्त होकर विकार को अपना कार्य माने तो उसका क्या हो?

यहाँ शुद्धभाव-अधिकार में शुद्ध आत्मस्वभाव समझाते हैं। स्वभाव में विकार का अभाव है, परन्तु शुद्धस्वभाव की दृष्टि किये बिना कोई अज्ञानी जीव ऐसा माने कि 'आत्मा तो पर्याय से भी शुद्ध ही है, पर्याय में भी रागादि नहीं हैं' तो उसकी मान्यता मिथ्या है। पर्याय में विकार होता है, उसे जो जाने ही नहीं तो गृहीतमिथ्यात्व है। अपनी पर्याय में विकार होते हैं, उसे जानकर शुद्धस्वभाव की दृष्टि से उन्हें टालने की यह बात है। यदि अवस्था में विकार होता ही न हो तो आत्मा में वर्तमान पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होनी चाहिए। और यदि पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो तो फिर सुनने-समझने की आवश्यकता ही क्या हो? अवस्था में विकार होता तो है, परन्तु त्रिकाल वस्तुस्वरूप में वह विकार नहीं है, वह ऊपर ही ऊपर रहता है। विकार से भिन्न स्वभाव का ज्ञान करने से धर्म होता है, परन्तु आत्मा को विकारी ही जाने तो धर्म नहीं होता। पुण्य-पाप विकारी क्रिया है, उसमें एकाग्रता छोड़कर शुद्ध आत्मस्वभाव में एकाग्रता करना सो ज्ञान की अविकारी क्रिया है, वही क्रिया मोक्ष का कारण है।

भगवान आत्मा, मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप विलय से दूर है, त्रैकालिक स्वभाव की विकार के साथ एकता नहीं है, परन्तु भिन्नता है। आत्मा के स्वरूप में काम की वासना नहीं है, संकल्प-विकल्प नहीं हैं; सभी आत्माओं का स्वरूप ऐसा ही है। पर्याय में जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वह तो पराश्रय से नवीन उत्पन्न करता है; अपने स्वभाव में तो उस कामदेव की वासना का और संकल्प-विकल्पों का अभाव है। स्वभाव जयवन्त है और विकार का अस्त है। अभिप्राय में जहाँ स्वभाव का आदर हुआ, वहाँ काम-वासना का नाश ही होता है। इन्द्रिय–विषयों में सुख की कल्पना अस्त हो जाती है। शुद्ध आत्मा में तो उसका त्रिकाल अस्त है ही, और वह शुद्धात्मा के आदर से पर्याय में से भी अस्त हो जाता है। जिसे त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की भावना नहीं है, उसकी पर्याय में से कभी भी विकार का नाश नहीं होता, किन्तु विकार ही होता रहता है। समस्त तत्त्वों में उत्कृष्ट– ऐसे अपने परमपारिणामिकस्वभाव की भावना करने से पर्याय में से विकारी वासनाओं का ऐसा अस्त हो जाता है कि वे फिर कभी उदित नहीं होतीं।

पुनःश्च, वह समयसार कैसा है? अज्ञान और पुण्य-पापरूप जो दुरितवृक्ष है, उसका नाश करने के लिए कुल्हाड़ी के समान है। जहाँ समयसारस्वभाव का आदर हुआ, वहाँ अज्ञान और पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं। शुद्धस्वभाव के आदर में से केवलज्ञानरूपी वृक्ष उगता है और पुण्य-पापरूपी दुरितवृक्ष नष्ट होता है। और वह आत्मस्वभव शुद्धज्ञान का अवतार है, सुखसागर से भरपूर और क्लेशसागर से पार है। ऐसा आत्मा ही सर्वतत्त्वों में सार है, इससे वही उपादेय है। ऐसा सर्व तत्त्वों में उत्कृष्ट भगवान आत्मा जयवन्त है।

जहाँ रुचि, वहाँ निःशंकता

अज्ञानी पर में सुख मानकर निःशंक होता है और ज्ञानी स्वभाव में निःशंक होते हैं

खान-पान, स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि विषयों में जीव ने कभी सुख नहीं देखा है, और वहाँ सुख है भी नहीं; तथापि आत्मा में सुख है, उसे भूलकर अज्ञानियों ने परविषयों में सुख मान रखा है। पैसा, मकान, भोजन, शरीरादि तो परमाणुओं के बने हैं– अचेतन हैं; क्या उन अचेतन परमाणुओं में सुख है? उनमें कहीं भी सुख नहीं है, और वे सुख के कारण भी नहीं हैं; तथापि विपरीत रुचि के कारण वहाँ निःशङ्करूप से सुख की कल्पना कर ली है। जहाँ सुख नहीं है, वहाँ उसे माना है, इसलिए वह मान्यता मिथ्या है। यदि विपरीतरुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो आत्मा के स्वभाव में सुख है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। यदि मिष्टान्न में सुख हो तो उसका अर्थ ऐसा हुआ कि जब मिष्टान्न खाये, तब आत्मा में सुख आये और पश्चात् जब वह विष्टारूप होकर निकल जाये, तब आत्मा में से सुख निकल जाये! मिष्टान्न में सुख नहीं है; उसमें जो सुख भासित होता है, वह तो मात्र अज्ञानी की मिथ्या कल्पना है। वह कल्पना उसे स्वयं अपने में उत्पन्न की है।

सुख की कल्पना कहाँ होती है, वह भी कभी विचार नहीं किया है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी पदार्थों में सुख कभी देखा नहीं है और न है ही; तथापि वहाँ सुख की कल्पना करके निःशंकरूप से सुख मान लिया है, असत् कल्पना खड़ी की है। पर में सुख न होनेपर भी, और देखा न होने पर भी मात्र रुचि के विश्वास से मान लिया है। इसलिए 'जो देखे उसी को मानता है'– ऐसा नहीं है, परन्तु जहाँ रुचता है, वहाँ निःशंक हो जाता है। अज्ञानी को विपरीत रुचि का बल है, इससे 'पर में सुख नहीं है'–ऐसा लाखों ज्ञानी कहें तो भी वह अपनी मान्यता नहीं बदलता। तब, अपने आत्मस्वभाव में तो परिपूर्ण सुख है, उसे जानकर मानना–वह तो सत् पदार्थ की रुचि है। यदि स्वभाव की प्रतीति और रुचि करे तो स्वभाव का सुख तो ज्ञात होने और अनुभव में आने योग्य है। पर में सुख माना, वह तो असत् प्रतीति थी, इससे दुःख था। पर में सुख है ही नहीं, तो फिर उसकी प्रतीति करने से सुख कहाँ से आयेगा? अपने स्वभाव में सुख है, उसे मानना, वह सत् प्रतीति है, और ऐसी प्रतीति करे तो स्वभाव में सुख प्रगट होता है। जो ज्ञान में ज्ञात हो, उसी को माने–ऐसा जीव की श्रद्धा का स्वभाव नहीं है, परन्तु जो स्वतः को रुचता है, उसे वह मानता है और वहाँ निःशंक हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव का सुख तो ज्ञान के अनुभव में आये ऐसा है। आत्मा का सुख पर में है – ऐसी विपरीत श्रद्धा ही महापाप है। आत्मा का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ रुचि हो, वहाँ वह निःशंक हो जाता है। अपने स्वभाव में निःशंक

हो तो धर्म होता है और पर में सुख मानकर वहाँ निःशंक हो तो अधर्म होता है। अज्ञानी जीव, पर को जानने समय अपना ज्ञान पर में रोककर वहाँ सुख मान लेता है, परन्तु उस मान्यता में, उस ज्ञान में अथवा परवस्तु में स्वतः कभी सुख नहीं देखा है; और उस किसी में सुख नहीं है– ऐसा अनन्त तीर्थंकरों ने कहा है, तथापि अपनी उस मान्यता को अज्ञानी नहीं छोड़ता। देखो! अनन्त तीर्थंकर कहें तो भी स्वतः को जो बात रुच गई है, उसे नहीं छोड़ता – ऐसी दृढ़तावाला है।

वैसे ही जिसे स्वभाव की रुचि से स्वभाव में सुख की श्रद्धा हुई, वह जीव इतना दृढ़ होता है कि यदि इन्द्र भी उसे श्रद्धा से डिगाने आयें तो भी वह न डिगे; समस्त जगत न माने और प्रतिकूल हो जाये, तब भी उसके स्वभाव की श्रद्धा न बदले। केवलज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा जैसा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, वैसा ही प्रत्यक्ष उस जीव के ज्ञान में भले ही न आता हो, परन्तु केवलियों ने जैसा देखा है, वैसे ही परिपूर्ण आत्मस्वभाव की प्रतीति उसे होती है; जैसा आत्मा केवली-भगवान की श्रद्धा में है, वैसा ही उस साधक-धर्मात्मा की श्रद्धा में है, उस श्रद्धा में वह निःशंक है, वह किन्हीं दूसरों की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसी प्रतीति करना ही धर्म का उपाय है। अफीम खाने में अथवा अग्नि में जलने आदि में सुख की कल्पना करता है; क्या अफीम या अग्नि में सुख है? वहाँ सुख नहीं है, मात्र अज्ञान से कल्पना की है। अज्ञान से पर में सुख की कल्पना करने में भी पर का आश्रय नहीं लेता किन्तु स्वतः कल्पना करके, जहाँ न हो, वहाँ भी सुख मान लेता है; तो फिर अपने स्वभाव में सुख है, उसे किसी पर का आश्रय नहीं है और उस स्वभाव की श्रद्धा भी पराश्रयरहित है। [भेदविज्ञानसार]

मोक्षभिलाषी उत्तम पुरुषों का कर्तव्य

मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है– ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिए मोक्षाभिलाषी उत्तम-पुरुषों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा करना चाहिए। [पद्मनन्दि-देशव्रतोद्योतन अधिकार-३]

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र